# दुष्यंत कुमार ने हिंदी ग़ज़ल को नया अर्थ का और रूप दिया

## (अर्धशतवर्षीय पुण्यतिथि के अवसर पर उनका स्मरण)

प्रेम सिंह

*कहां तो तय था चिराग़ां हरेक घर के लिए/कहां चिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।/यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है/चलो यहां से चलें और उम्र-भर के लिए।*

दुष्यंत कुमार (1 सितंबर 1933 - 30 दिसंबर 1975) को गुजरे 50 साल हो चुके हैं। उनकी अर्धशतवर्षीय पुण्यतिथि उनकी रचनाशीलता को नए सिरे से समझने का अवसर हो सकती है। यह महत्वपूर्ण काम उनकी रचनाशीलता के विविध पक्षों पर गोष्ठियों के आयोजन और आलोचकों द्वारा उनके साहित्य के गंभीर अध्ययन के जरिए संभव है। 2024-2025 में तो ऐसा कोई गंभीर प्रयास देखने में नहीं आया; 2025-2026 में उसकी आशा की जानी चाहिए। यह इसलिए जरूरी है कि दुष्यंत का कृतित्व देश में चल रहे तमाशा-पर्व का खाद्य न बना दिया जाए।

गत 29 जनवरी को दिल्ली में डॉ राजेंद्र प्रसाद अकादमी और साहित्य वार्ता के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित 'दुष्यंतनामा' कार्यक्रम में मुझे बतौर श्रोता शामिल होने का अवसर मिला। इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम के तीन सत्र थे। पहले सत्र में दुष्यंत कुमार की कविताओं और गज़लों पर आलोचनात्मक लेख पढ़े गए, दूसरे सत्र में उनकी गज़लों का जामिया और दिल्ली विश्वविद्यालयों के छह छात्राओं/छात्रों (चार लड़कियां दो लड़के) ने रंग-पाठ किया, और तीसरे सत्र में दुष्यंत कुमार की याद में कवि-सम्मेलन/मुशायरा का आयोजन हुआ।

मुझे अचरज भरी खुशी हुई कि कार्यक्रम के दूसरे सत्र में भाग लेने वाली युवा प्रतिभाओं ने दुष्यंत की गज़लों का नाटकीय अंदाज में शानदार पाठ किया। गोया वे दुष्यंत की गज़लों की अर्थ-ध्वनियों और लय को आत्मसात किए हुए थे। मैंने यह बात भी गौर-तलब पाई कि उनमें कोई भी छात्रा/छात्र हिंदी विभाग अथवा उर्दू विभाग से नहीं थे। नई कविता के सफर से गुजरते हुए ग़ज़ल की दुनिया में जाने के पीछे दुष्यंत कुमार की जो मंशा थी, कि अपने जमाने के करोड़ों लोगों की पीड़ा को उनकी भाषा में सीधे साझा किया जाए, उनके युवा पाठकों में आज भी फलीभूत हो रही है!

दुष्यंत कुमार को 44 साल की उम्र मिली। (उनकी असली जन्मतिथि 27 सितंबर 1931 है।) उन्हें कुछ और साल मिले होते तो वे नई कविता के मूल में स्थित आधुनिक प्रगतिशील भावबोध का विस्तार सामान्य पाठक-वर्ग तक कर ज्यादा बड़े पैमाने पर कर पाते। दुष्यंत को शिकायत नई कविता की दुरूहता और एकरसता से थी, अपने आप में नई कविता से नहीं। उन्होंने अपने ग़ज़ल संग्रह 'साये में धूप' की भूमिका में लिखा है कि वे हिंदी ग़ज़ल को नई कविता की ही एक विधा मानने को तैयार हैं।

ऐसा नहीं है कि नई कविता के मूल में स्थित नए भावबोध में (शीत-युद्ध कालीन साहित्यिक खेमेबंदियों के बावजूद) साधारण आदमी की असहाय दशा की चिंता व्याप्त नहीं थी। दुष्यंत उस चिंता को केवल साहित्यिक/कलात्मक बहसों तक सीमित नहीं रहने देना चाहते थे। वे उसकी सीधी और साझा अभिव्यक्ति

के हिमायती थे, जो लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा (हिंदी और उर्दू का मिला-जुला रूप) में ही संभव थी। ग़ज़ल का चस्का उन्हें भले ही शमशेर बहादुर सिंह की गज़लों से लगा हो, कविता की भाषा और कहने के अंदाज के मामले में वे काफी पहले से भवानी प्रसाद मिश्र के कायल थे।

दुष्यंत पर, जैसा उन्होंने कहा है, ग़ज़ल नाज़िल नहीं हुई थी, वे पिछले 25 सालों से चोरी-छिपे ग़ज़ल पर हाथ आजमाते आ रहे थे। उर्दू न जानते हुए भी उन्होंने उर्दू ग़ज़ल की परंपरा को समझने की कोशिश की थी। हिंदी ग़ज़ल की लघु परंपरा को तो उन्होंने आत्मसात और समृद्ध किया ही। कमलेश्वर ने लिखा है, "ऐसा नहीं है कि ग़ज़ल विधा की परंपरा हमारे पास न रही हो, यह अमीर खुसरो से लेकर भारतेन्दु, निराला, शमशेर बहादुर सिंह और बलबीर सिंह 'रंग' तक हमें मिलती है, लेकिन ग़ज़ल हिंदी काव्य परंपरा की मुख्य विधा उन कवियों के बावजूद नहीं बन सकी। लेकिन दुष्यंत ने पहली बार, विभाजन की त्रासदी और उर्दू पर लगाए गए देशद्रोही होने के कलंक के बाद, जिस ईमानदारी और साहस से हिंदी-उर्दू की साझा विरासत को अपनी ग़ज़लों में पेश किया है, वह ऐतिहासिक, साहित्यिक और साहसिक कारनामा है।"

शमशेर ने कहा कि दुष्यंत ने हिंदी ग़ज़ल को नया स्वर और नई अभिव्यक्ति दी। दरअसल, दुष्यंत ने उर्दू और हिंदी ग़ज़ल के बीच पुल बनाने का काम किया; दोनों परंपराओं को समृद्ध बनाया; और इस क्रम में हिंदी ग़ज़ल को नया अर्थ और रूप दिया। उनकी गज़लों में जीवनानुभूति रचनाकार को थरथराती हुई गुजरती है, जैसे रेल के गुजरने पर पुल थरथराता है - *तू किसी रेल-सी गुजरती है,/मैं किसी पुल-सा थरथराता हूं।* शायद यही कारण है कि एक बड़ा पाठक समूह उनकी गज़लों से स्पंदित हो उठा था; और वे गज़लें जुलूसों में नारे समूह-गान बन गई थीं!

दुष्यंत अपनी प्रतिबद्धता किसी पार्टी के प्रति नहीं, अपने मनुष्य के प्रति स्वीकार करते हैं। लेकिन वे अराजनीतिक लेखक नहीं है; बल्कि, आजाद भारत के एक सरोकारधर्मी नागरिक के रूप में राजनीतिक लेखक हैं। ऐसा राजनीतिक लेखक जो करोड़ों लोगों की बदहाल ज़िंदगी की आवाज बनने को अधीर है - *मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूं/हर ग़ज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है।* सही मायनों में राजनीतिक रचनाकार निराशावादी नहीं होता। दुष्यंत भी नहीं हैं। वे शिद्दत से यथास्थिति में परिवर्तन चाहते हैं। परिवर्तन की आहटों को पहचानते भी हैं - *आज यह दीवार परदे की तरह हिलने लगी/शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।*

दुष्यंत की ग़ज़लों के फटेहाल हिंदुस्तानी के झोले में 'कोई संविधान' है। वह हिंदुस्तानी संविधान के लिए या संविधान उस हिंदुस्तानी के लिए बेगाना हो गया है - *सामान कुछ नहीं है फटेहाल है मगर,/झोले में उसके पास कोई संविधान है।* उसी संविधान के वास्ते से उनका आग्रह है - *अब तो इस तालाब का पानी बदल दो,/ये कँवल के फूल मुरझाने लगे हैं।* तालाब का पानी बदलने के बजाय देश के राजनीतिक और बौद्धिक एलीट ने 1991 में संविधान को ही बदलने का रास्ता चुन लिया!
तब से वह नए साम्राज्यवाद और सांप्रदायिक फासीवाद के धूप-दीप से उस ठहरे हुए तालाब के पानी को सुगंधित-सुनहला दिखाने की कलाबाजी में लगा है। *अब किसी को भी नजर आती नहीं कोई दरार/घर की हर दीवार पर चिपके हुए हैं इश्तहार।* दरारों को ढंकने के लिए अब पहले के मुकाबले अनेकानेक

चमकीले छपे और डिजिटल विज्ञापनों की चकाचौंध है। संविधान को लेकर चल रहीं मौजूदा वंचनापूर्ण बहसों में दुष्यंत के ये इशारे आज के पाठक के लिए ज्यादा अर्थपूर्ण है।

दुष्यंत को आपातकाल का अंदेशा हो गया था। उन्होंने 1972 में लिखा - *पहले भी इस फिज़ाँ में कोई कम घुटन न थी/मौसम बहुत खराब हुआ चाहता है अब।* दुष्यंत ने आपातकाल को देश और नागरिकों की आजादी पर हमला माना था। कमलेश्वर सहित दुष्यंत के कई सहयोगियों ने बताया है कि दुष्यंत उस पूरे दौर में बहुत ही विचलित थे। यह अकारण नहीं है कि उनकी अधिकांश गज़लें 1974-75 के साल में लिखी गईं। आज जब राजनीतिक और सामाजिक हलकों में अघोषित इमरजेंसी की बात अक्सर हो रही है, तो दुष्यंत की ग़ज़लों और दूसरी रचनाओं का नए नज़रिए से विश्लेषण किया जाना चाहिए।

*एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहें/इस अंधेरी कोठारी में एक रोशनदान है।* जब प्रशासन ने उनसे जवाब तलब किया कि उनकी ग़ज़ल का "बूढ़ा आदमी" कौन है जिसे वे "अंधेरी कोठरी में एक रोशनदान" बता रहे हैं, तो 'व्यवहारकुशल' दुष्यंत ने जयप्रकाश नारायण की जगह विनोबा भावे का नाम लेकर खुद को शासकीय प्रकोप से बचाया। आज जबकि राजनीतिक और सामाजिक दायरों में अघोषित आपातकाल की चर्चा अक्सर होती है, दुष्यंत की गजलें और ज्यादा प्रासंगिक हैं।

उनकी पचासवीं पुण्य-तिथि पर एक विचार आता है। दुष्यंत ने 'ईश्वर को सूली' कविता लिखने पर राज्य के मुख्यमंत्री द्वारिका प्रसाद मिश्र को स्पष्टीकरण दिया था कि 'कविता खुद लिख जाती है'। मिश्र खुद कविता लिखते थे। लिहाजा, दुष्यंत प्रशासन की कार्रवाई से बच गए। उन्होंने आपातकाल पर लिखी कविता पर भी सच्चाई बता दी होती, तो वे निश्चित गिरफ्तार होते। तब संभव है 29-30 दिसंबर की रात को हुए हार्ट अटैक और मृत्यु की कहानी कुछ और होती!

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फ़ेलो हैं।*)